पाषाण द्वीप और महासागर

विस्तृत सागर मध्य खड़ा था, एक शिलामय द्वीप।
उच्च गगन में शीश उठाए, जैसे समद महीप।
दृष्टि जहां तक जाती कहता, विस्तृत मेरा राज्य।
मम स्वामित्व प्रतीक सुविस्तृत, सागर यह अविभाज्य ।।१।।

जाएं निकल दूर से उसके, अगणित जो जलयान ।
भय से रहते दूर जागता, मन में यह अभिमान ।
एक बार सागर ने उसको, उठ कर दिया प्रबोध ।
छोड़ो यह स्वामित्व भाव निज, त्यागो जगत विरोध ।।२।।

मात्र शुष्कता या कठोरता, नहीं चरित संपत्ति ।
नहीं भय जनन कर सकता है, श्रृद्धा की उत्पत्ति ।
तुम पर आश्रित कतिपय पक्षी, तुम सर्पों के वास ।
किसके प्रिय तुम हो सकते हो, कर विषमय उच्छवास ।।३।।

सितता तुम्हे मात्र देती है, विहग वरुथज बीट ।
आते तव आश्रय में केवल, बहकर आए कीट ।
आकर नित्य प्रभाकर तेरा, वर्धित करता ताप ।
तब भी नित्य मित्र तुम करते, निज उच्चता प्रलाप ।।४।।

वसु से घिरे हुए भी नित हो, मित्र परम् वसुहीन ।
नहीं मान शोभा देता है, नर हो यदि श्रीहीन ।
दे न सके लघु वसुधा को भी, हरित एक परिधान ।
क्या उसको करना संभव है, वरता का अभिमान ।।५।।

कौन घर्षित कर तुम्हें, करता यहां है रेत ।
कौन बिखराता तुम्हे, तट पर बना कर श्वेत ।
तरलता बलवान है, तुमको नहीं यह भान ।
तरल शीतल सरल पाता, जगत में सम्मान ।।६।।

तुम नहीं पहचान पाए, सरसता की शक्ति ।
मात्र दृढ़ता विरसता में, रही तव अनुरक्ति ।
मानिता वंदित न होती, सखा बनता कौन ।
आज एकाकी खड़े हो, धार कर चिर मौन ।।७।।

मात्र रण के मध्य आती, शक्तिमत्ता काम ।
सकल जीवन पर नहीं, होता कुटिल संग्राम ।
युद्ध को ही समझता जीवन, वहीं नर मूढ़ ।
कर सका रण हल कभी क्या, प्रश्न जग के गूढ़ ।।८।।

नित्य तुमसे अधिक ऊर्जा, मित्र की हम सोख ।
नहीं होते तप्त ऊष्मा, आंतरिक भी रोक ।
हमारी ऊर्जा बनाती, बहुपयोधर कृष्ण ।
सींचने रस से समय पर, धरा शुष्क सतृष्ण ।।९।।

तुम नहीं थे नहीं आगे, भी रहोगे मूढ़ ।
नियम तुम अस्तित्व के, क्या जानते हो गूढ़ ।
सकल वसुधा मानते जो, आत्म की ही भोग्य ।
प्रकृति उनको मानती है, मात्र क्षय के योग्य ।।१०।।

विपुल सागर मात्र क्षण को, भी हुआ यदि क्षुब्ध ।
बदल जाता है असंख्यक, द्वीप का प्रारब्ध ।
मात्र उठती वेगशीला, कुपित एक तरंग ।
बिखर जाते सुदृढ़ द्वीपों, के विलग हो अंग ।।११।

बहुत ऊंचा है तुम्हारे, शीर्ष से आकाश ।
नहीं सागर की गहनता, का तुम्हें आभास ।
जानते हैं हम समूचा, निभृत भी तव मूल ।
तुम अकारण चल रहे, बलवान के प्रतिकूल ।।१२।।

तटों पर बिखरी हुई है, रेत जो निष्प्राण ।
कभी था तव शीर्ष पर, राजित सुदृढ़ पाषाण ।
अतः अवधारित करो तुम, उर्मियों की शक्ति ।
सृजन में विकसित करो रुचि, त्याग बल आसक्ति ।।१३।।

कोटिशः पाते समाश्रय, जहां निर्भय सत्व ।
वहीं जग में कहा जा सकता, महत्तर सत्व ।
नहीं होती जगत में, परजीविता है मान्य ।
जो स्वपोषक है, अवर है, जंतु है सामान्य ।।१४।।

विरसता है वस्तुतः निष्प्राणता का रूप ।
शीत छाया यहां जीवन, नहीं केवल धूप ।
रूप सारे बिखरते हैं, सत्य मात्र अरूप ।
अरुण प्राची है सुजीवन, नहीं तमयुत कूप ।।१५।।

हम नहीं अस्थिर सुगतिमय, और हैं जीवंत ।
पर नहीं यह गति हमारे, है नितल पर्यन्त ।
गहन उर में हमारे, राजित विचित्राशांति ।
जहां जा सकती न मोहज, विपुल भव की क्लांति ।।१६।।

गर्भ में मेरे विनिर्मित, तुंग गिरि बहु द्वीप ।
ज्यों सुमौक्तिक धारती है, गर्भ में निज सीप ।
हैं समुत्थित हमीं से, पाते पुनः विश्राम ।
हमारा जल ही दिलाता, उन्हें फिर निजधाम ।।१७।।

अतः त्यागो पृथकता का, निपट यह अज्ञान ।
और छोड़ो स्वयं के, सामर्थ्य का अभिमान ।
पिता हूं, मुझसे पृथक क्या, तुम्हारा अस्तित्व ।
निकल आओ तम गुहा से, मृषा जग में स्वत्व ।।१८।।

कहां बनता है तुम्हारा, देख लो प्रतिबिंब ।
कौन प्राकृत है जगत में, तुम्हारा अवलंब ।
फिर मिलेगा तुम्हें दृढ़तर, सुभद नव विश्वास ।
पृथक मेरी क्रोड में क्या, प्राणियों के श्वास ।।१९।।

दिनांक : 06/06/2020

पं. शिव कुमार मिश्र